

अध्याय—3

अर्थ (द्वितीय पुरुषार्थ के रूप में)

अर्थ शब्द ऋग् धातु से निष्पन्न है। जिसका अभिप्राय है गति।¹ अर्थात् जिससे जीवन गतिमान होता है वही अर्थ है। अर्थ के अभाव में हमारा जीवन निर्वाह करना संभव नहीं लगता। हमारे शरीर को जीवन में जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है वह सब अर्थ के अन्तर्गत ही आती है। जीवन यापन के लिए अर्थ अनिवार्य है। जिसके द्वारा मानव के इस लोक व परलोक से सम्बन्धित समस्त प्रयोजन सिद्ध होते हैं। उसे ही अर्थ की संज्ञा दी गयी है।² अर्थ मनुष्य के भोग, आरोग्य एवं धर्म का मुख्य संयोजक रहा है। इसीलिए अर्थ की ओर सबकी स्वाभाविक प्रवृत्ति दिखाई देती है।³ जिसे प्राप्त करने की अभिलाषा सब करें वही अर्थ है।⁴

मानव की सुख सुविधाओं को मूल शास्त्रों ने अर्थ माना है एवं धर्म का भी मूल, अर्थ है।⁵ सुख प्राप्त करने के लिए सभी अर्थ की कामना करते हैं। इसलिए आचार्य कौटिल्य त्रिवर्ग में अर्थ को प्रधान मानते हुए इसे धर्म और काम का मूल कहा है। कौटिल्य के अनुसार अर्थ वह अभिलषित वस्तु है जिस पर प्राणियों की आजीविका निर्भर है।⁶ भूमि, धन, पशु मित्र, विद्या, कला व कृषि सभी अर्थ की श्रेणी में आते हैं। इनकी संख्या निश्चित करना संभव नहीं है। क्योंकि यह मानव जीवन की आवश्यकताओं पर निर्भर करती है। मनुष्य स्वभावतः कामना प्रधान होता है, यह कहना भी गलत नहीं होगा वह कामनामय होता है। इन सभी कामनाओं की पूर्ति का एक मात्र साधन अर्थ है। आचार्य वात्स्यायन अर्थ को परिभाषित करते हुए विद्या, सोना, चांदी, धन, धान्य गृहस्थी का सामान मित्र का अर्जन एवं जो कुछ प्राप्त हुआ है या अर्जित हुआ है उसका वर्धन

सब अर्थ है। (विद्या भूमि हिरण्य पशुधान्य भाण्डोपस्कर मित्रादी नामार्जन मर्जितस्य विवर्धनमर्थः।⁷

अर्थ के बिना जीवन में कोई भी उद्यम सम्भव नहीं है। बिना शरीर के या साधनों (अर्थ) के परमार्थ भी सम्भव नहीं है। यद्यपि सृष्टि के सभी जीवों में भोजन के रूप में अर्थ की आवश्यकता दिखायी देती है। किन्तु मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताएं अन्य सभी से भिन्न दिखायी देती हैं। मनुष्य भोजन व निवास से अतिरिक्त संग्रह कर धन धान्य प्राप्त करके समाज में शक्तिशाली बनने में भी अर्थ का उपयोग करता है।

सुख प्राप्त करने की इच्छा मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। सभी जीवों को भी सुख प्रिय है। इसे दो भागों में बांटा जा सकता है। विषय—सुख व आत्मसुख। इससे हम सुख को दो अभिलषित लक्ष्य काम व मोक्ष मान सकते हैं।

निश्चित रूप से जीवन में अर्थ की महत्ता को प्रदर्शित किया गया है। परन्तु साथ ही साथ यह भी निर्देशित किया जाता रहा है कि धर्म के विरुद्ध अर्थ का उपार्जन नहीं करना चाहिए। महाभारत, मनुस्मृति सहित कई शास्त्रों में स्पष्ट कहा गया है कि अधर्म से अर्जित अर्थ दुख व पतन का कारण बनता है। इसके अतिरिक्त धर्म से अर्जित धन में भी असक्ति नहीं होनी चाहिए, यह असक्ति भी परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति में बाधक सिद्ध होती है। धर्म के विपरीत अर्जित धन निदानीय व त्याज्य है। महात्मा मनु ने कहा है कि धर्म विरुद्ध अर्थ को छोड़ देना चाहिए। अर्थोपार्जन में धर्म की संस्तुति आवश्यक है। मोक्ष के लिए तीनों पुरुषार्थ का संयमित होना आवश्यक है इसलिए धर्म का अर्थ व काम से पूर्व प्रतिपादित किया गया है।

व्यापक रूप में अर्थ सभी प्रकार के भौतिक साधनों का प्रतिनिधि रूप है जिसे व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, खो सकता है अथवा दान दे सकता है। अर्थ के अतिरिक्त वह सभी भौतिक साधन सम्मिलित है जो धार्मिक, सामाजिक अथवा स्वभाविक जीवन साधनों के लिए आवश्यक है।⁸ अर्थ के सम्बन्ध में सभी विद्वान इस मत पर सहमत हैं कि मानवीय जीवन में अर्थ की भूमिका ही जीवन को वास्तविक अर्थ प्रदान करने में सक्षम है।⁹

अर्थ हमारे जीवन में कितना महत्वपूर्ण है यह इस बात से भी स्पष्ट होता है कि हम अर्थोपार्जन तथा रक्षण के लिए अपने प्राणों को भी संकट में डाल देते हैं। घोर संकट आने पर भी हमें प्राणों व धन की रक्षा करनी चाहिए। अर्थ का अत्याधिक व्यय या धर्म विरुद्ध कार्यों में निवेश को महान दोष मानते हुए इसे अर्थ दूषण का नाम दिया गया है। शुक्र नीति में स्पष्ट दिया गया है कि अर्थ का उपार्जन और संरक्षण कृपण की भांति करना चाहिए किन्तु इसका उपभोग विरक्त की भांति उदारता से होना चाहिए।¹⁰ वेदों में स्पष्ट कहा गया है कि कृपण का धन निरर्थक है वह उसकी मृत्यु है उसे हर क्षण भय रहता है। वह न तो यज्ञ द्वारा ईश्वर को प्रसन्न कर सकता है और न ही दान द्वारा मित्र को।¹¹ अर्थवान व्यक्ति को चाहिए कि वह याचक को कुछ न कुछ अवश्य दे। धन होने पर हमें अवसर न गंवाते हुए दान, पुण्य के द्वारा प्राप्त करना चाहिए। अर्थ को भोग विलास में न गवांकर पारमार्थिक कार्यों में ही लगाने का शास्त्रादेश है।

अर्थ में सभी गुण समाहित होते हैं धनवान व्यक्ति में सभी गुण माने जाते हैं। उसके अवगुण भी गुण प्रतीत होते हैं। जिसके पास धन है वह समाज में प्रतिष्ठित होता है उसे उच्च कुल व स्थिति का मानते हैं, वही पंडित, वक्ता गुणवान व दर्शनीय कहा जाता है।

यस्यास्ति वितं स नरः कुलीनः ।

स पंडितः स श्रुत्वान्गुणज्ञः

स एव वक्ता स च दर्शनीयः

सर्वेगुण कांचना माश्रयन्ति ।¹²

वस्तुता अर्थ गुणों और गुणियों के आकर्षण का केन्द्र माना जाता है अर्थ को मित्रों को बांधने वाला कहा गया है। जिसके पास अर्थ होता है उसके पास मित्र और बान्धवों की कमी नहीं रहती तथा संन्यासी भी उसके प्रशंसक बन जाते हैं।

ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री देवी के धन-सम्पदा के प्रयोग की दृष्टि से दो नाम हैं— लक्ष्मी और श्री। जो सम्पदा अपने ही पोषणार्थ हो उसे लक्ष्मी कहा गया है। किन्तु जब वह विश्व-कल्याण के लिए हो तो यह श्री बन जाती है जो समस्त समाज को आश्रय देती है।

वैदिक परम्परा में पुरुषार्थों की सूची में अर्थ पुरुषार्थ को दूसरे स्थान पर रखा गया है। अर्थ पुरुषार्थ स्वयं में एक आवश्यकता मूलक सन्दर्भ को समाहित करता है। अर्थ के द्वारा ही मनुष्य अपनी सम्पूर्ण आकांक्षाओं और कामनाओं की पूर्ति करता है। स्वयं की पूर्ति के साथ ही साथ यह त्रिवर्ग के अन्य दो पुरुषार्थों धर्म तथा काम के सम्पादन में भी महत्वपूर्ण होता है। इसीलिए अर्थ पुरुषार्थ को धर्म तथा काम के साधन के रूप में स्वीकार किया जाता है। व्यवहारिक पक्ष पर ध्यान दें तो बिना अर्थ के धर्म व काम का सम्पादन असम्भव प्रतीत होता है।

अर्थ सृष्टि के विकास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। समय के साथ-साथ समाज का विकास होता रहता है। इस विकास के क्रम में

आवश्यकताएं, सिद्धान्त व समस्याएं बदलती रहती हैं। राज्य व संस्थाओं के मापदण्ड बदलते रहते हैं। कितने ही सत्ता परिवर्तन हुए, राजनीतिक उथल-पुथल हुई हो, कभी सम्पन्नता तो कभी विपन्नता की पराकाष्ठा हुई हो किन्तु एक आकांक्षा जो सदैव प्रबल होती रहती है वह है सामर्थ्य प्राप्त करने की। यह मानव का स्वाभाविक गुण है कि वह अपने उपभोग तथा शक्ति को बढ़ाने के लिए अधिकाधिक साधन जुटाना चाहता है। जिससे वह अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति कर उत्कृष्टता व वैभव प्राप्त करे। भारतीय मनीषियों ने इसे ध्यान में रखते हुए 'अर्थ' पुरुषार्थ की व्यवस्था की। उन्होंने इसे महत्वपूर्ण मानते हुए धर्म के बाद दूसरा स्थान प्रदान किया। पुरुषार्थ की व्यवस्था में अर्थ एक साधन मूल्य है। अर्थ ही मानव जीवन का एक मात्र उद्देश्य न बन जाये इसलिए धर्म का प्रतिपादन अर्थ से पूर्व किया गया है धर्म की व्यवस्था अर्थ के लिए आवश्यक है अर्थात् 'अर्थ' का धर्मानुकूल होना आवश्यक है।

पुरुषार्थ में "पुरुषस्य अर्थ" पुरुष के स्वरूप का आधार अर्थ की व्यवस्था है यही मनुष्य के तात्त्विक और नैतिक लक्ष्य का साधन है और दूसरा साधन उपयोगिता और व्यवहारिक पक्ष का है। इस तरह पुरुषार्थ¹³ की व्यवस्था में पुरुष का आध्यात्मिक और भौतिक प्रयोजन को स्थापित किया गया है। पुरुषार्थ की संस्कृति आध्यात्मिकता से जुड़ी हुई है जो अर्थ पुरुषार्थ में मानवीय जीवन के सभी पक्षों को समायोजित किये हुए है।

भौतिक रूप से अर्थ मनुष्य के विश्लेषण पर आधारित है। अर्थ मनुष्य से दो प्रकार से संबंधित है प्रथम वह स्वयं ही जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण करना चाहता है, जो मनुष्य के विकास के लिए न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति से संबंधित है। दूसरा पक्ष सामाजिक कर्तव्यों को पूर्ण करने से संबंधित है, जिसमें अपने अर्थ का भी त्याग

करना पड़ सकता है¹⁴ इसलिए दोनों स्थितियों में अर्थ एक साधन मूल्य है। अर्थ का उत्पादन मूल्य काम और धर्म में प्रत्यक्ष रूप से और मोक्ष में अप्रत्यक्ष रूप से मौजूद रहता है जो जीवन की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति में अतिआवश्यक है। अर्थ से ही नैतिक शक्ति को उपयोग में लाया जा सकता है अर्थ के माध्यम से ही समाज में उच्च स्थान प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए मनुष्य को प्रयत्न करना पड़ता है और यही कारण है कि सामाजिक संघर्ष की स्थिति से बचने के लिए अर्थ को धर्म का आधार माना गया है। यद्यपि अर्थ मुख्यतः व्यक्तिगत मूल्य है, लेकिन व्यवस्था की दृष्टि से यह सामाजिक मूल्य का स्थान प्राप्त कर चुका है और समाज में वितरण व व्यवस्था की दृष्टि से राज्य से संबंधित है।

अर्थ में काम की भांति सार्वभौम की भावना और नैसर्गिक प्रवृत्ति है। अतः जीवन की प्रत्येक परिस्थिति प्रत्येक क्षण में अर्थ का अपना महत्त्व है। सामान्यतः मनुष्य की रुचि अर्थ और काम की ओर होती है, क्योंकि दोनों में ही आकर्षण अधिक होता है और आत्मा को सुख का भी अनुभव होता है। अर्थ आवश्यक पुरुषार्थ होते हुए साधन मूल्य भी है। उद्देश्यों की पूर्ति का माध्यम अर्थ होने के कारण मनुष्य में परिग्रह की भावना रहती है इसलिए अर्थ को संचय करने की प्रवृत्ति को नियंत्रित करने के लिए धर्म को आधार माना गया है, क्योंकि अर्थ मनुष्य के प्रयत्नों को इकाई के रूप में संयोजित करता है, जिसमें मनुष्य की अपनी अंतर्निहित शक्तियों को विकसित करना एवं उनकी संरचना को व्यवस्थित करने का यह सम्पूर्ण विकास अर्थ पर निर्भर करता है। मनुष्य एक कर्मशील प्राणी है उसकी सभी कामनाओं की पूर्ति अर्थ के माध्यम से ही होती है। अर्थ और काम सभी प्राणियों में समान रूप से पाये जाते हैं। पुरुषार्थ में अर्थ व्यवस्था ही मुख्य कारण है जो प्रत्येक स्थिति में साधन होने पर ही पुरुषार्थ है। काम

और अर्थ साध्य की श्रेणी में आते हैं, साधन एक शक्तिशाली मूल्य अर्थ की समृद्धि और आध्यात्मिक अनुशासन पुरुषार्थ का आधार है। प्राचीन मनीषियों ने अर्थ को धर्म, मोक्ष एवं आनन्द का साधन माना है, जिसमें सभी प्रकार के नैतिक साधन आते हैं।

अर्थ को भौतिक जीवन का आधार कहा जाता है। अतः सभी मनुष्यों को अर्थ सुरक्षित रखना चाहिए।¹⁵पुराणों में भी कहा गया है कि जो काम करते हैं, उन्हें ही धन प्राप्त होता है और जिन्हें धन प्राप्त होता है। वे ही आनंद प्राप्त करते हैं। अतः अर्थ भी काम का ही साधन है। अर्थ एक साधन मूल्य है, लेकिन साध्य की तरह साधन भी महत्त्वपूर्ण है। नैतिक एवं सही कर्मों के द्वारा अर्जित किया गया धन और उपयोग उचित एवं नैतिक होना चाहिए जो कि सामाजिक शुभ कल्याण व उच्च उद्देश्य के लिए हो। अर्थ का उद्देश्य मानवता की सेवा और कल्याण के लिए होना चाहिए न कि स्वयं के लिए।

अर्थ जब तक साधन के रूप में प्रयोग किया जाता है तब तक तो ठीक है किन्तु जब इसे साध्य मान लिया जाता है तो यह अर्थ से अनर्थ हो जाता है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में कहा है “अर्थ धर्मानुसार होने पर धन सुख की पूर्णता का मार्ग दिखाता है तथा सद्गुण के विपरीत होने पर उसका नाश करता है”।

अर्थ शब्द का प्रयोग यहाँ विनियम, अदान—प्रदान, धन, सम्पत्ति, उपभोग की सामग्री या जीविका के साधन के रूप में किया जाता है। धन जो व्यावहारिक रूप से जीवन को चला सके वही अर्थ है। अर्थ का क्षेत्र भी व्यापक है जिस प्रकार आत्मा के लिए मोक्ष की, बुद्धि के लिए धर्म की, मन के लिए काम की आवश्यकता होती है उसी प्रकार शरीर के लिए अर्थ की

आवश्यकता होती है। कौटिल्य ने अर्थ को सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना है।

उन्होंने धर्म और काम का मूल अर्थ को माना है। उन्होंने अपनी अर्थ की परिभाषा में कहा है कि वह अभिलषित वस्तु जिस को प्राप्त करने की सब कामना करते हो। अर्थ का उत्पादन, रक्षण और उपभोग तीनों में सामन्जस्य होना चाहिए सब धर्म के अनुसार अवश्य होना चाहिए। अर्थोपार्जन धर्मानुकूल होना चाहिए अर्थात् धन का अर्जन धर्म व समाज के द्वारा अनुमोदित व दूसरों को बिना हानि या बाधा उत्पन्न किये होना चाहिए। अर्थ का रक्षण या एकत्रीकरण आपकी वास्तविक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए करना चाहिए। आपके कर्तव्यों को ध्यान में रखते हुए अपने अनिवार्य कर्मों का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। समस्त क्षमता का प्रयोग अर्थोपार्जन के लिए ही न कर उसका धर्मानुकूल उपभोग भी करना चाहिए। धनोपार्जन में जिनका श्रम लगा हो या जिनका सहयोग हो उन्हें उनका अंश अवश्य देना चाहिए। साथ ही साथ निराश्रितों को भी उपभोग के लिए कुछ दान देना चाहिए।

पुरुषार्थ योजना में 'अर्थ' से सामान्य अभिप्राय —'अभिलषित वस्तु' से होता है। व्यवहार में हम सभी की 'अर्थ' की ओर प्रवृत्ति देखी जा सकती है। आचार्य चाणक्य इसी संदर्भ में कहते हैं—“अर्थार्थ प्रवर्तते लोकः।”¹⁶ अर्थात् 'लोक अर्थ के लिये प्रवर्तित होता है।' इसलिये इसका नाम 'अर्थ' सार्थक भी है, क्योंकि अर्थ्यते सर्वैः इति अर्थः से भी जिसको प्राप्त करने की अभिलाषा सभी करते हैं, उसे अर्थ कहते हैं। अतएव अर्थ उस वस्तु को कहते हैं, जिससे प्राणियों की जीविका का जीवन निर्वाह हो सके। इस रूप में भूमि, धन, द्रव्य, विद्या, कला, कृषि, पशुपालन आदि आजीविका सम्बन्धी प्रयोजन की सभी वस्तुयें अर्थ की श्रेणी में समाहित हो जाती हैं।

आचार्य वात्स्यायन ने उक्त सन्दर्भ से ही अर्थ की परिभाषा देते हुये कहा है कि विद्या, सोना, चांदी, धनधान्य, बर्तन-भौंड, लकड़ी-लोहे का सामान एवं घर गृहस्थी के सभी सामान, मित्र का अर्जन एवं जो प्राप्त एवं अर्जित किया हुआ है, उसका भी वर्धन यह सभी अर्थ है—

“विद्या भूमिहिरण्य पशुधान्य भाण्डोपस्कर मित्रादीनामर्जन-मर्जितस्य विवर्धनमर्थः।”¹⁷

आचार्य चाणक्य ने अर्थ की परिभाषा इस प्रकार की है—

“मनुष्याणां वृत्ति अर्थ। मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः।”¹⁸

अर्थात् ‘मनुष्यों की वृत्ति (जीविका) ही अर्थ है, तात्पर्य स्वरूप, मनुष्यों की जीविका और उसके जीविका के साधन भूत (भूमि) पृथ्वी का लाभ प्राप्त करना और पालन करना ‘अर्थ’ है।

कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र मुख्यतः राजनीतिशास्त्र का ग्रन्थ है और आचार्य कौटिल्य ने इसमें राजा को ही प्रमुखता दी है। अतः इस दृष्टि से ‘भूमि’ (अर्थशास्त्र में) प्रमुख हो जाती है इसी लिये परिभाषा में धन-धान्य, वस्त्र, गृह सम्पत्ति एवं समस्त जीवनोपयोगी पदार्थों की जनयित्री अर्थात् ‘पृथ्वी’ ही मुख्य ‘अर्थ’ कही गयी है। चूँकि राज्य ही भूमि का संरक्षण एवं सवर्धन करने वाला है इसलिये यह भी कहा गया है कि अर्थ का मूल्य राज्य है—“अर्थस्य मूलं राज्यम्।”¹⁹

अर्थ से अभिप्राय ‘धर्म’ सम्पत्ति से भी है। ‘धन’ शब्द की व्युत्पत्ति, “धिनोतीति यतः” से वह जो सब को तृप्त कर देता है, अथवा ‘दधन्ति (फलति) इति धमम् से भी जो देता है या फल प्रदायक है वह ‘धन’ है।

अर्थ अपने साधनगत स्वभाव से उन इच्छाओं की पूर्ति से जुड़ा हुआ है। जिनका परिणाम सामान्यतः सुख या आनन्द प्राप्ति में निहित होता है। इस दृष्टि से अर्थ प्रत्यय को इतना प्राचीन माना जा सकता है, जितनी

मनुष्य की इच्छायें एवं उनकी पूर्ति। विश्व के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद में ऋषि प्रार्थना करते हैं, हे प्रकाशवान सूर्य की पृथ्वी। तुम हमको सन्तान और धन से परिपूर्ण करो। हम अपने सुख के निमित्त तुमसे निवेदन करते हैं, जिससे हम सन्तान से युक्त ऐश्वर्य के अधिपति हो सकें।

“रयि दवों दुहितरों विभातीः प्रजावन्तं यच्छातास्मासु देवीः।”²⁰

यहाँ अर्थ या धन को ‘रयि’ कहा गया है। एक अन्य स्थल पर अर्थ की ‘द्रव्य’ के रूप में इच्छा की गयी है—

“इन्द्रं श्रेष्ठानि द्रवणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य

सुभगत्वमस्मे।”²¹

हे इन्द्र! हमको उत्तम धन (द्रव) और ख्याति प्रदान करो। सौभाग्य दान कर धन बढ़ाओ, हमारी वाणी में माधुर्य भरो, हमारे शरीर की रक्षा करो, हमारे लिये सभी दिन सुखपूर्ण हों।

सामान्य रूप से उपनिषदों में यद्यपि ज्ञान एवं तप को अधिक महत्व दिया गया है। तथापि वृहदारण्यक उपनिषद् में राजा जनक याज्ञवल्क्य से यह पूछते हैं कि उसे सम्पत्ति, पशुधन आदि चाहिए या शास्त्रार्थ में विजय। तब याज्ञवल्क्य उनसे दोनों ही माँगते हैं।²² यहाँ, यह प्रमाणित होता है कि परमसत्ता या आत्म सत्य के सम्पर्क में रहते हुये भी भौतिक वस्तुओं की अवहेलना नहीं की गयी है। ईशावास्योपनिषद् में आता है कि वे जो विद्या और अविद्या को साथ ही साथ जान लेते हैं, अविद्या (प्रवृत्ति) से भौतिक जगत या मृत्यु को पार करते हैं और विद्या (निवृत्ति) से अमृतत्व को प्राप्त कर लेते हैं।²³

अर्थ की महत्वपूर्ण विशेषता का वर्णन महाकाव्यों में प्रचुरता से मिलता है। महाभारत में आता है, धन अत्यन्त प्रिय और दुर्लभ वस्तु है इसकी प्राप्ति एवं सिद्धि हो जाने पर मनुष्य संसार में अपनी सम्पूर्ण कामनायें पूर्ण कर सकता है, उसका सभी को प्रत्यक्ष अनुभव है। इसमें संशय नहीं है, इसलिये मनुष्य को सोते जागते, घूमते-फिरते हर समय, उपायों से धन की आय को सुदृढ़ बनाना चाहिए –

“आसीनश्च शयनाश्च विचरन्नपि व स्थितः।

अर्थ योगं दृढं कुर्याद् योगरुच्चावचैरपि।।”²⁴

रामायण में लक्ष्मण अर्थ के सम्बन्ध में कहते हैं, जिसके पास अर्थ या धन होता है, उसके लिये धर्म, अर्थ, काम तथा अन्य सभी सहायक होते हैं, निर्धन के लिये इनको प्राप्त करना कठिन होता है।

“यस्मार्था धर्मकामार्थः तस्य सर्वं प्रदिक्षणम्।

अधेनेनार्थ कामेन नार्थः शक्यो विचिन्वता।।”²⁵

अर्थ की महत्ता भारत के प्राचीन लोक साहित्य में भी प्रभावपूर्ण तरीके से व्यक्त की गयी है। पश्चतन्त्र में वर्णित है, ‘अर्थ से हमें सतत् ओज, आत्म विश्वास एवं शक्ति प्राप्त होती है।’ ‘धन का स्थान हमारे जाति भाईयों के समकक्ष है, यदि धन, नीची जाति वालों के पास है तो भी उनका इस पृथ्वी पर बड़ा सम्मान होता है। गरीब या निर्धन उच्च कुल वाला भी घृणित माना जाता है।’²⁶ कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में अर्थ को ‘वार्ता’²⁷ भी कहा गया है। कौटिल्य के अनुसार यदि ‘दण्ड’ एवं ‘वार्ता’ संसार में न रहे तो, यह जगत मृतप्राय प्रतीत होगा। चाणक्य नीति में अर्थ के साथ, जगत के व्यवहार को जोड़ते हुये कहा गया है—

“यस्यार्थस्तस्य मित्राणि यस्यार्थस्तस्य बान्धवाः।

यस्थार्थः स पुमाल्लोक यस्थार्थः स चपण्डितः ।।²⁸

अर्थात्, जिसके पास धन है लोग उसी के भाई बन्धु है तथा वह श्रेष्ठ पण्डित के रूप में मान्य है। लोक में धन को ही बन्धु निरूपित किया गया है।

अर्थ सम्बन्धी विभिन्न मतः—

अर्थ एक व्यवहारिक मूल्य है, जिसके अंतर्गत व्यक्तिगत संतुष्टि, सामाजिक प्रधानता और साधन भी अर्थ ही है। अर्थ मनुष्य जनित गुणों का स्वरूप और सभी प्रकार के स्वार्थ—परार्थ कामनाओं की प्राप्ति का उपाय है। इसलिए अर्थ का वर्णन कई प्रकार से किया गया है। अर्थ के दो अर्थ इस प्रकार हैं :-

1. **सामान्य दृष्टि—** इस दृष्टि से अर्थ मनुष्य के उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक होता है, इस अर्थ में वह प्रार्थनीय है आरंभिक पुरुषार्थ व्यवस्था में इसी रूप में अर्थ का प्रयोजन है।
2. **विषेय दृष्टि—** इसमें विशेष वस्तु के ऊपर अर्थ निर्भर करता है और धर्मानुसार होने पर ही पुरुषार्थ का स्वरूप बनता है। प्रयोजन सिद्धि के आधार पर सामाजिक मूल्यों की परोपकारिता के रूप में अर्थ के उद्देश्य के द्वारा अर्थ की परिभाषा दी गई है। नीतिवाक्य में कहा गया है कि जिसके द्वारा लोक व परलोक के सभी प्रकार के प्रयोजन सिद्ध होते हैं उसे अर्थ कहते हैं।²⁹

अर्थ मनुष्य की कामनाओं की पूर्ति का माध्यम होने के कारण ही इसकी व्याख्या की गई है। मानसिक क्रियाओं के रूप में अर्थ मानसिक

प्रेरक साध्य और साधन से संबंधित है। इसमें अर्थ का आंतरिक पक्ष महत्त्वपूर्ण है। कामना के रूप में अर्थ पूर्ण लक्ष्य तक पहुँचने का साधन है। इसके अंतर्गत सांसारिक समृद्धि, लाभ, धन, व्यापारिक कार्य, विधि में आजीविका की क्रिया, मनुष्य जगत् वस्तु जगत् के पक्ष और परिश्रम पक्ष आदि आते हैं। शाब्दिक दृष्टि से अर्थ एक पदार्थ, एक वस्तु है जिसके अंतर्गत पदार्थ को प्राप्त करने की कामनाएँ आती हैं।³⁰ उद्देश्य व साधन की दृष्टि से अर्थ की अभिलाषा, वस्तु की इच्छा, प्रेरक शक्ति हेतु रुचि में उपयोग की इच्छा से संबंधित है। उद्देश्य व साधन की दृष्टि से अर्थ सर्वमान्य मूल्य है। अर्थ को कई प्रकार से संबोधित किया जाता है। श्री, संपदा, वृत्ति, धन आदि शब्दों के द्वारा। यह केवल विनिमय का साधन नहीं, बल्कि मूल्य का आधार भी है। सामान्य रूप से यह अर्थ के रूप में प्रयोग हुआ है। अर्थ का उपयोग व्यापार और व्यवसाय में किया जाता है। अर्थ के द्वारा सामाजिक सम्मान और अच्छे पद की प्राप्ति होती है। अर्थ एक शक्ति का आधार भी है, यह शक्ति के रूप में सामाजिक कल्याण और सर्वकल्याण का माध्यम भी है और साथ ही साथ विनाश का कारण भी, और दोनों का संतुलन ही सामाजिक कल्याण के लिए महत्त्वपूर्ण है, जिससे अर्थ सम्पादन के द्वारा सहयोगिता व सद्भावना के लिए अर्थ अति आवश्यक है।

भारतीय चिन्तन में जहाँ अर्थ की आवश्यकता एवं महत्ता को घोषित किया गया है, वहीं अन्य स्थानों पर अर्थ सम्बन्धी आलोचनाओं का विवरण प्राप्त होता है। निरीश्वरवादी जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में अपरिग्रह एवं सन्यास की प्रशंसा की गयी है। तत्त्वार्थसूत्र में आता है परिग्रह या सम्पत्ति का कारण मोह या मूर्च्छा है³¹ यह भी विवेचन आता है कि अर्थ किस प्रकार से अत्यधिक श्रम दुःख, शत्रुता, भय, कष्ट, झगड़ा लगाव घृणा एवं

भ्रम जैसी बुराइयों का मूल कारण है। महात्मा बुद्ध ने दुःख का मूल कारण 'तृष्णा' को बताया है। अर्थ द्वारा परम् सत्य की प्राप्ति को भी सम्भव नहीं बताया गया है। याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी से कहते हैं धन के द्वारा 'अमृतत्व' को प्राप्त नहीं किया जा सकता।³² महाभारत में कहा गया है— अर्थलोलुपता दुःख का कारण है।³³

उक्त बातों के सन्दर्भ में बहुधा अर्थ के प्रति द्विविध मन्तव्यों के होने से यह प्रश्न उठता है कि अर्थ को जहाँ एक ओर आवश्यक एवं अभिन्न घोषित किया जा रहा है, वहीं अन्य ओर इसे अपर्याप्त एवं बुराई का जनक बताकर तृष्णारहित होने एवं सन्यास की बात कही जा रही है। इससे क्या यह आक्षेप नहीं हो सकता कि एक मूल्य का परस्पर विरोधाभासी वर्णन, समाज में व्यक्ति को दो परस्पर विरुद्ध दिशाएँ प्रदान करने वाला हो सकता है? और यदि ऐसा है तो यह अर्थार्जन के प्रयास में उन्हें भ्रमित करेगा, जिससे उनका उत्साह भी क्षीण हो सकता है?

इस समस्या के समाधानार्थ यह कहा जा सकता है कि गृहस्थ आश्रम हेतु तो अर्थ को निःसंकोच रूप से अनिवार्य मूल्य घोषित किया जा सकता है और इस रूप में यहाँ यह धनात्मक मूल्य है, आवश्यक है एवं उपयोगी है। परन्तु वानप्रस्थी एवं मुमुक्षु लोगों के लिये (वहीं धन के संदर्भ में) अपरिग्रह मूल्य है और उनको धन की प्रीति अनावश्यक एवं उनको अध्यात्मिक पथ को बाधित करने वाली है। अतः उक्त लक्ष्य की दृष्टि से अर्थ को ऋणात्मक तथ्य के रूप में देखा जा सकता है।

अर्थ का महत्त्व:—

वैदिक परम्परा के अनुसार जीवन में अर्थ के महत्त्व के कारण ही अर्थ को पुरुषार्थ का स्वरूप प्रदान किया है। अर्थ का महत्त्व मात्र काम तृप्ति के

लिए नहीं, बल्कि अर्थ धर्म प्राप्ति का आधार भी है। व्यवहारिक जीवन में अर्थ अत्याधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य को स्वतः ही नैतिक साधनों के द्वारा अर्थ का उपार्जन भी करना चाहिए, क्योंकि नैतिकता से अर्जित किया गया अर्थ धर्म के लिए भिन्न-भिन्न स्रोतों से उत्पन्न होता है। धन का उपार्जन, संवर्द्धन, संरक्षण और सदुपयोग नैतिक एवं नियमपूर्वक करना चाहिए, जिससे परोपकार के द्वारा पुण्योपार्जन करना तथा परलोक के लिए भी सुख के साधन की प्राप्ति होती है। अर्थ से धर्मानुसार इच्छा की पूर्ति होती है और अनुष्ठान से अत्याधिक विकास होता है। संन्यासी भी गृहस्थ के बाद अर्थ का त्याग कर सकता है।³⁴ अर्थ मनुष्य के लिए सभी प्रकार की कामनाओं की पूर्ति का साधन है गृहस्थ जीवन तो पूर्ण रूप से अर्थ पर ही निर्भर करता है। गृहस्थ जीवन का निर्माण ही अर्थ का आधार है, व्यवहारिक जीवन में भी मनुष्य अपनी सभी प्रकार की भौतिक इच्छाओं और कामनाओं को पूर्ण अर्थ के माध्यम से ही करता है।

वैदिक परम्परा के त्रिवर्ग में अर्थ असाधारण साधन है जो मोक्ष तक पहुँचने में सहायता प्रदान करता है। इस संसार में जो भी छोटे-बड़े जितने कार्य हैं वे सभी अर्थ पर निर्भर करते हैं। संसार के सभी प्राणियों की जीवन यात्रा अर्थ पर निर्भर करती है। अर्थ के बिना धर्म और मोक्ष को प्राप्त नहीं किया जा सकता है, क्योंकि मोक्ष पुरुषार्थ अर्थ को कर्म में लगाकर ही प्राप्त किया जा सकता है। धर्म और अर्थ दोनों का मूल व्यक्तिगत, सामाजिक व आध्यात्मिक आधार है। अतः धर्म और अर्थ दोनों ही एक-दूसरे की सहायता करते हैं। सामाजिक व्यवस्था व आध्यात्मिकता का आधार होने के कारण ही धर्म को प्रथम स्थान प्राप्त हुआ है। अतः अर्थ को भी धर्म पर ही आधारित होना चाहिए और आत्मा का साक्षात्कार धर्म के द्वारा ही संभव है, परंतु धर्म के आधार पर अर्थ प्राप्त करना कठिन है,

क्योंकि मनुष्य को कई प्रकार के प्रलोभन दिये जाते हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर दंडनीति की व्यवस्था भी की गई है ताकि दंडनीति के भय से मनुष्य धर्म का पालन करे तभी समाज में व्यवस्था और कल्याण संभव होगा और धर्म, त्याग नैतिकता की व्यवस्था स्थापित होगी।³⁵

धार्मिक दृष्टि से अर्थ पुरुषार्थ धर्म पर आधारित है। धर्म जिसे 'रिलीजन' कहा जाता है, वैदिक परम्परा के आरम्भ में मंत्रों का महत्त्व अधिक था, परंतु धीरे-धीरे मंत्र पक्ष को महत्त्व देकर दान-दक्षिणा और यज्ञ सामग्री को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा, जिनके पास पर्याप्त अर्थ साधन होते थे वही धार्मिक संस्कार करा सकते थे और आज भी जन्म व अन्य संस्कारों को कराते समय पंडित यज्ञ सामग्री की सूची द्वारा कार्य सम्पन्न कराते हैं। इसी कारण से धार्मिक कार्यों को संपन्न कराने के लिए अर्थ का अत्याधिक महत्त्वपूर्ण है जो धनवान व्यक्ति होता है वही आदर और प्रसिद्धि प्राप्त करता है और जो निर्धन व्यक्ति होता है उसे मजदूरी वाला कार्य करना पड़ता है।

वर्तमान में आर्थिक विकास की सबसे बड़ी समस्या पर्यावरण के असंतुलन की है। मनुष्य का प्रकृति से सम्पर्क और समाज से साम्य की समाप्ति होती जा रही है जिससे पर्यावरण की समस्या का सामना सम्पूर्ण प्राणी जगत् को करना पड़ रहा है। कारखानों व बस्ती के लिए वनों और पहाड़ों को दूर-दूर तक साफ किया जा रहा है, जिसके कारण मानसून तो प्रभावित हुआ ही है साथ ही भूमि और मनुष्य को कई प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। प्रकृति और पर्यावरण में सभी प्रकार के जीव-जन्तु और वनस्पति का अपना एक महत्त्व है, क्योंकि सभी प्रकार के जीव-जन्तु, वनस्पति, जंगल और पर्यावरण को संतुलित बनाये रखने में सहायता प्रदान करते हैं, परन्तु मनुष्य अधिक अर्थ के अर्जन के

लिए वातावरण से साम्य को नष्ट कर रहा है और उसका परिणाम सम्पूर्ण समाज को भुगतना पड़ेगा। तकनीकी उन्नति के द्वारा वातावरण और भी अधिक असंतुलित हो रहा है।

वर्तमान में संपूर्ण सृष्टि के सामने पर्यावरण के असंतुलन की एक भयंकर समस्या है। बड़े-बड़े बांध बनाकर बिजली उत्पादन और नहरों का विकास कर सिंचाई साधनों का निर्माण किया जा रहा है, जिससे पर्यावरण असंतुलन के कारण बहुमूल्य मिट्टी का कटाव, भूमि की क्षारता और मिट्टी का अनुपयोगी आदि मनुष्य और पर्यावरण को विनाश की ओर ले जा रहा है। अतः यदि अर्थ का अर्जन संतुलित नहीं किया गया तो उन साधनों से पैदावार और अर्थ का अर्जन तो अधिक हो जायेगा, परन्तु उस लाभ के स्थान पर मानवता और पर्यावरण के लिए अभिशाप बन जायेगा। अतः धर्म, अर्थ और काम का संतुलन ही पर्यावरण और वातावरण को संतुलित बनाये रखने के लिए एक सफल मंत्र है।

राज्य की आर्थिक नीति भी राष्ट्र के सामाजिक व आर्थिक लक्ष्यों से संबंधित है, ये मनुष्य के सभी कार्यों की रूपरेखा है। समाज में व्यक्तिगत, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था व उत्तरदायित्व एक प्रकार से राज्य पर ही होता है। विकसित राष्ट्रों में कल्याणकारी राज्य की भावना, राज्य का कार्य क्षेत्र अधिक विस्तृत हो रहा है और विकसित हो रहे देशों की योजना उत्पादन व विवरण की व्यवस्था का मुख्य आधार न्याय व समानता का सिद्धान्त है। राज्य मनुष्य की सभी प्रकार की क्षमताओं को विकसित करने में सहायता प्रदान करता है। अच्छा राज्य वही है, जो कम से कम आवश्यकताओं के द्वारा अपने सभी कार्यों को पूर्ण करे।

अर्थ की समस्या व्यक्ति, समाज और राज्य की नहीं है, बल्कि धर्म पर आधारित होती है और धर्म सर्वमान्यता के रूप में संपूर्ण मानवता से संबंधित है। भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में अर्थ की इतनी भिन्नताओं के आधार पर ही सभी समस्याओं का हल सम्भव है। अन्तर्राष्ट्रीय भावना में जहां सभी का कल्याण हो वही अर्थ का दृष्टिकोण और अर्थ पुरुषार्थ की समानता का आधार है।

गृहस्थाश्रम के लिये अर्थ धनात्मक मूल्य है। परन्तु यहाँ भी धन सम्पत्ति के अनियन्त्रित एवं अमर्यादित संकलन एवं संचयन को अमान्य किया गया है। आचार्य मनु कहते हैं, शरीर की अधिक कष्ट न देकर अर्थ का संचय करना चाहिए।'

“अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत अर्थसश्रयम्।”³⁶

अर्थ जीवन के लिये आवश्यक है परन्तु अर्थ का अर्जन धर्म के अनुरूप होना चाहिए तथा अर्थ को धर्म-कर्मादि कृत्यों, कर्मों में भी लगाने का परामर्श भी भारतीय ग्रन्थों में मिलता है।

भारतीय प्राचीन परम्परा में अर्थ के लिये अर्थ के अर्जन को नहीं सराहा गया है।

बल्कि भारतीय परम्परों का स्वर है कि अर्थ का संधान शरीर की आवश्यकताओं की यशोचित पूर्ति तथा समाज व्यवस्था के परिचालन के लिये होना चाहिए इसके विपरीत जिसका धन केवल धनके लिये ही है, दान आदि के लिये नहीं है, वह धन के तत्व के नहीं जानता। जैसे सेवक वन में गायों की रक्षा करता है, उसी प्रकार वह भी उस धन का दूसरों के लिये रक्षकमात्र है—

“यस्य चार्वाथमेवार्थः स च नार्थस्य कोविदः।

रक्षेत मृतकोअरण्ये यथा शास्तादृगेव सः।।”³⁷

धन के लिये धर्म की आवश्यकता के सम्बन्ध में बुद्धिचरित्र में भी उल्लेख है। कि 'संसार में जो धन पाकर मित्र और धर्म में लगाता है उनका धन सारवान है तथा नष्ट होने पर वे धन ताप नहीं पैदा करते',

“एवं च ये द्रव्यमवाप्य लोके मित्रेषु धर्मे च नियोजयन्ति ।

अवाप्तसाराणि धनानि तेषां भ्रष्टानि नान्ते यनयन्ति तापम् ॥”³⁸

साथ ही साथ अर्थ वृत्ति को नियंत्रित रखने के लिये धर्म के विरुद्ध अर्थ एवं काम के त्याग को भी निर्देशित किया गया है –

“परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ॥”³⁹

प्रतीत होता है कि अर्थ अपने आप में साध्य मूल्य नहीं है, यह वस्तुतः इच्छापूर्ति में साधनगत मूल्य है। इस मूल्य का प्रयोग करने के लिये स्वीकृति किन्हीं विशिष्ट नियमों से ही प्राप्त होती है। किस अर्थ पर किस व्यक्ति विशेष का अधिकार है, इसका निर्धारण भी आवश्यक होता है। अतएव यह निर्धारण एवं अधिकार नियम एवं नियन्त्रक रूप में 'धर्म' के द्वारा प्राप्त होता है इसलिये धन का धर्म युक्त सम्प्रयोग को उत्तम माना गया है। महाभारत के अनुसार, “जो धन, धर्म से युक्त और जो धर्म धन से सम्पन्न है वह अमृत के समान है,

“योऽर्थो धर्मेण संयुक्तो धर्मो यच्चर्थसंयुतः ।

तद्धि त्वामृतसंवाद तस्मादितौ मताविह ॥”⁴⁰

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अर्थ –

कौटिल्य अर्थशास्त्र में प्राचीन चिन्तन परम्परा में अर्थ के महत्व एवं स्थान का प्रतीनिधिक वर्णन प्राप्त होता है। अर्थशास्त्र में उस समय की न केवल सामाजिक राजनैतिक क्रम तथा व्यवस्था का ही नहीं वरन् आर्थिक गतिविधियों का भी विवरण प्राप्त होता है। अर्थ शास्त्र के सामान्य अध्ययन

यह स्पष्ट होता है कि अर्थ प्रत्यय का अर्थशास्त्र में वास्तविक स्वरूप क्या है? एवं यह कि इसे अन्य पुरुषार्थों या मूल्यों से कैसे सम्बन्धित किया गया है।

कौटिल्य अपने ग्रन्थ में सर्वप्रथम वेदों की सर्वोच्चता स्वीकार करते हुये चार विद्याओं का वर्णन करते हैं— अन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति।⁴¹

‘अन्वीक्षकी विद्या के अन्तर्गत सांख्य, योग्य तथा लोकायत है, ‘त्रयी’ से तात्पर्य ऋक्, साम, यजु इन तीन वेदों से है। परन्तु आचार्य कौटिल्य ने ‘अन्वीक्षकी’ को ‘त्रयी’ में ही समावेशित किया है यहाँ पर इसका कारण उनके अनुसार यह है कि ‘अन्वीक्षकी’ द्वारा ही ‘त्रयी’ विद्याओं में निहित विशिष्ट धर्मों, कर्त्तव्यों की प्रधानता, अप्रधानता (बलाबलों) का भिन्न-भिन्न युक्तियों से निर्धारण अथवा प्रमाणीकरण होता है। यहाँ आचार्य कौटिल्य द्वारा अन्वीक्षकी विद्या को सुख-दुःख से बुद्धि को स्थिर रखने वाली और सोचने, विचारने, बोलने तथा कार्य करने में सक्षम बनाने वाली विद्या कहकर भी वर्णित किया है।⁴²

तृतीय विद्या, अर्थात् ‘वार्ता’ के अन्तर्गत आचार्य कौटिल्य कृषि, पशुपालन

तथा व्यापार को समाहित करते हैं जो राज्य की मुख्य आर्थिक गतिविधियाँ भी हैं। चूँकि कृषि, पशुपालन तथा व्यापार तीनों ही मुख्य रूप से भूमि से ही सम्बद्ध हैं अतः आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में मुख्य ‘अर्थ’ भूमि को ही कहा है—

“मनुष्याणांवृत्तिः अर्थः। मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः”⁴³

परन्तु उक्त प्रकार से वर्णित तीनों विद्याओं, आन्वीक्षकी, त्रयी तथा वार्ता के संस्थापन में आचार्य कौटिल्य दण्ड या राजविद्या या शासन विद्या

को मानते हैं, क्योंकि इन सभी विद्याओं की सुख समृद्धि दण्ड नीति पर निर्भर है। यही अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति कराती है तथा प्राप्त वस्तुओं की रक्षा कर, रक्षित वस्तुओं की वृद्धि करती है। इस प्रकार यह संवर्द्धित वस्तुओं को समुचित कार्यों में लगाने का निर्देश करती है।⁴⁴ अतः यह कहा जा सकता है, दण्ड नीति ही प्रजा को धर्म, अर्थ, तथा काम में प्रवृत्त करता है। संसार की सारी लोकयात्रा इसी पर अर्थात् शासन नीति पर निर्भर है। इस प्रकार अर्थशास्त्र में दण्डनीति एवं शासन व्यवस्था को एक प्रकार से प्रमुखता प्राप्त हो जाती है। इसकी प्रमुखता के आधार को आचार्य कौटिल्य दूसरे प्रकार से भी स्पष्ट करते हैं—

‘यदि दण्ड व्यवस्था तोड़ दी जाये या शासन—नीति न रहे, तो इसका कुपरिणाम यह होगा कि जैसे बड़ी मछली, छोटी मछली को खा जाती है, वैसे ही बलवान व्यक्ति, निर्बल व्यक्ति का रहना दूभर कर देगा और सर्वत्र अव्यस्था फैल जायेगी। इस प्रकार दण्डधारी राजा से रक्षित दुर्बल भी बलवान बना रहता है।’⁴⁵

कृषि, पशुपालन एवं व्यापार आदि आर्थिक गतिविधियाँ (वार्ता) मानवीय क्रियाओं प्रयासों एवं परिणामों से जुड़ी हुई हैं। कौटिल्य मानव क्रियागत इन परिणामों को तीन प्रकार से व्यक्त करते हैं —

(1) उन्नति (2) अवनति (3) स्थिरता

उक्त तीनों परिणामों की प्राप्ति—दृष्ट एवं अदृष्ट दो प्रकार की क्रियाओं से हो सकती है। यहाँ प्रथम, मानव प्रयास से (दृष्ट) तथा दूसरा दैव (अदृष्ट) द्वारा कृत है। वे मानव प्रयास या प्रयत्न तथा दैव की सभी परिणामों की प्राप्ति कराने वाला निरूपित करते हैं एवं यही दो परिणाम मानव जीवन को अभिचालित करते हैं। अतः आचार्य कौटिल्य ने उन्हें जीवन के दो पहियों के रूप में बतलाया है। पुनः आगे अज्ञात कारकों से

प्राप्त परिणाम 'दैव' एवं ज्ञात कारकों से प्राप्त परिणाम 'मानवीय क्रिया' का फल कहे गये हैं। यहाँ कौटिल्य दैव को छोड़कर अपना विवेचन प्रथम, अर्थात् मानवीय क्रिया या प्रयत्न पर केन्द्रित करते हैं। इस प्रकार 'अर्थ' का गूढार्थ या वास्तविक अर्थ अर्थशास्त्र में मानवीय क्रियाओं प्रयासों की सीमा में ज्ञात कारकों से प्राप्त परिणामों में सीमित हो जाता है। इस प्रकार आचार्य कौटिल्य अर्थशास्त्र में 'अर्थ' शब्द का प्रयोग मानव प्रयत्नों से प्राप्त परिणामों के लिये करते हैं तथा वांछनीय परिणामों तथा धनात्मक मूल्यों के लिये इसका प्रयोग आरक्षित करते हैं। वे निषेधात्मक या अवांछनीय परिणामों या मूल्यों के लिये वे 'अनर्थ' शब्द का प्रयोग करते हैं। आचार्य यह भार 'मानव विवेक' पर रखते हैं कि वह दोनों में से किसका चयन करे वास्तव में उनके विचार से अर्थशास्त्र मूलतः इन मूल्यों की प्राप्ति की विधियों से सम्बंधित है।

कौटिल्य मूल्य या परिणाम प्राप्ति के दो पक्षों का विवेचन करते हैं— साधन एवं साध्य। 'साधन' वह शक्ति है, जिसके द्वारा क्रिया सम्पन्न की जाती है —

इसकी तीन श्रेणियाँ है — प्रथम श्रेणी में ज्ञान एवं परामर्श आते हैं, द्वितीय श्रेणी में आचार्य कौटिल्य धन एवं शक्ति को समाहित करते हैं, अन्तिम श्रेणी में शौर्य एवं साहस हैं। इस प्रकार ज्ञान, धन, शक्ति तीनों ही अर्थोपार्जन में मूलभूत हैं।

कौटिल्य के अनुसार — 'अपने धर्म के पालन से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है तथा पालन न करने से वर्ण तथा कर्म के संकर हो जाने से लोक का नाश हो जाता है'⁴⁶ परन्तु कौटिल्य अर्थशास्त्र में धर्म से आशय मुख्य रूप से वर्णाश्रम धर्म से करते हैं जो कि मनुस्मृति के समान ही है।

कौटिल्य स्वर्ग तथा मोक्ष की बात तो करते हैं परन्तु मोक्ष का क्या स्वरूप है, यह इनके ग्रन्थ में नहीं मिलता। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि कौटिल्य 'अन्वीक्षकी' का क्षेत्र युक्तियों से त्रयी आदि विद्याओं की प्रधानता – अप्रधानता बतलाने वाली तथा सुख–दुःख से बुद्धि को स्थिर रखने वाली विद्या के रूप में करते हैं। चूँकि कौटिल्य इसके भी संस्थापन आधार के रूप में दण्डनीति को रखते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि कौटिल्य के समय तक न्याय वैशेषिक, अद्वैत आदि मत नहीं आये थे साथ ही सांख्य योग तथा लोकायत को ही अन्वीक्षकी विद्या में उन्होंने माना है (अधिकरण.1 / प्रकरण.1 / अध्याय.1 / 4) और इन दर्शनों में जीवन का जो परमलक्ष्य प्रस्तावित है उसे कौटिल्य अधिक महत्व नहीं देते प्रतीत होते। उनके लिये अधिक रुचि का विषय दण्ड–नीति है, क्योंकि यही सभी विधाओं के संस्थापन का आधार भी है।

मोक्ष या मुक्ति के प्रति कौटिल्य का विशेष झुकाव न होना उनके सन्यास आश्रम निरूपण से भी स्पष्ट होता है। सन्यासी की उनकी परिभाषा है, 'जितेन्द्रिय होना, और वह किसी भी सांसारिक कार्य को न करे, निष्किंचन बना रहे, एकाकी रहे, प्राणरक्षामात्र के लिये स्वल्प आहार करे, समाज में न रहे, जंगल में एक ही स्थान पर रहे, मन वचन, कर्म से अपना भीतर तथा बाहर पवित्र रखे" कौटिल्य धर्म के परिणामस्वरूप आगे के विवेचन में संन्यासी द्वारा प्राप्त लक्ष्य के सम्बन्ध में कोई बात नहीं करते दिखायी देते। सन्यास आश्रम का आचार्य कौटिल्य अधिक समर्थन भी नहीं करते दिखते। वे स्पष्ट कहते हैं, "जब कोई पुरुष समर्थ होने पर भी, अपने लड़के बच्चों, माता–पिता, नाबालिग भाई, अविवाहित या विधवा बहिन आदि का भरण न करे, तो राजा उसे बारह पणों का दण्ड दे।

संन्यासी के वार्ता आदि कार्य में न लगे रहने एवं समाज से निस्पृह रहने के कारण राज्य की आर्थिक गतिविधियों में संन्यासी का अधिक योगदान नहीं हो पाता साथ ही उसकी निर्भरता समाज के अन्य सदस्यों पर होती है। अतः प्रतीत होता है, एक ओर तो राज्य के लिये आर्थिक कार्य न कर पाने तथा दूसरी ओर समाज के उत्पादकता श्रम पर अतिरिक्त भार बनने से आचार्य कौटिल्य कहते हैं कि “वानप्रस्थ के अतिरिक्त कोई दूसरा संन्यासी जनपद में न रहे।⁴⁷ उक्त विवरण कौटिल्य मत में राज्य एवं अर्थ के प्रति उनके समर्पण को प्रदर्शित करता है।

वस्तुतः आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र में धर्म की विशेषता वर्णाश्रम धर्म का प्रजा द्वारा परिपालन है परन्तु उनके कृत्य का मूलभूत विषय राजधर्म है या राज्य के लिए विशेष अनुदेश पर केन्द्रित है। अर्थशास्त्र में राजा के लिए युद्ध, करना, धर्म पुराण एवं नूतन ज्ञान आदि सभी में प्रवीणता को निर्देशित करते हैं कि राजा को प्राणिमात्र की ही कामना में सतत लगे रहने की तथा प्रजा के शासन तथा शिक्षण को परामर्शित करते हैं।⁴⁸ राजा को विद्वान पुरुषों की संगति में रहने को उद्योगी, विनम्र, शिक्षित प्रजाजनों को सम्मान करने वाला लोकप्रिय तथा हितकारी तथा उद्योगी होना चाहिए क्योंकि आचार्य कौटिल्य के अनुसार उद्योग ही अर्थ का मूल है। इसके विपरीत, उद्योगहीनता ही अनर्थों को देने वाली है। अतः राजा यदि उद्योगी नहीं हुआ तो उसके प्राप्त अर्थों और प्राप्तव्यों का नाश हो जाता है, किन्तु जो राजा उद्योगी है, वह शीघ्र उद्योग का मधुर फल भोगता है और इच्छित सुख, सम्पदा का उपभोग करता है। इसके विपरीत वे राजा को विभिन्न कृत्य यथा परायी स्त्री, धन, हिंसा वृत्ति, कुसमय शयन, चंचलता, अधर्माचरण आदि के परित्याग का उपदेश करते हैं।⁴⁹

राजा चार प्रकार के कार्य पालिकों की नियुक्ति करता है। (1) अमात्य (2) राजदूत (3) विभागाध्यक्ष (4) गुप्तचर। इन सभी पर राजा का नियन्त्रण होता है और वह राज्य में दण्ड एवं कुशल प्रशासन से कानून व्यवस्था बनाए रखता है। राजा प्रजा की उन्नति तथा अच्छे व्यवहार के प्रति उत्तरदायी है। यदि प्रजा खुशहाल है तो वह भी है, क्योंकि प्रजा के हित में ही राजा का हित निहित है। इस प्रकार उसे वह (अच्छा) नहीं करना है जो उसे प्रिय हो बल्कि वह जो प्रजा के लिये प्रिय व पोषक है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में इस प्रकार राजा के कुशल प्रशासक होने के लिये आवश्यक गुणों का सूक्ष्म रूप से विवेचन प्रस्तुत करते हैं। चूँकि राज्य की सभी विधाओं एवं शान्ति समृद्धि का आधार है, अतः इसकी कुशल स्थापना कौटिल्य के अनुसार आवश्यक है। राजा को वे चिरकाल तक श्रेष्ठ अविजित राज्य प्रशासन में रत् देखना चाहते हैं। कौटिल्य का उक्त राजव्यवस्था या दण्ड व्यवस्था का फल भी यही है कि “राजा की दण्ड व्यवस्था से रक्षित चारों वर्णाश्रम, सारा लोक अपने अपने धर्म-कर्मों में प्रवृत्त होकर निरन्तर अपनी मर्यादा पर बने रहते हैं।

मनुस्मृति में जहाँ धर्म का प्रत्यय सर्वाधिक महत्व का स्थान रखता है, वहीं कौटिल्य दण्ड व्यवस्था, शासन तथा शक्ति को अधिक महत्व देते हैं जैसा कि चाणक्य सूत्र में आता है –

‘धर्मस्य मूलमर्थः – धर्म का मूल अर्थ है।

अर्थस्य मूलं राज्यम् – अर्थ का मूल राज्य है

राज्यमूलामिन्द्रियजयः – राज्य का मूल इन्द्रियजय है।⁵⁰

शक्ति का मूल राजा के लिये पुरुषार्थ माना जा सकता है परन्तु प्रजा के लिये वस्तुतः अपने-अपने वर्णों के धर्मों का अनुपालन तथा राज्य के नियमों का पालन कौटिल्य को अभिप्रेत है और इस प्रकार वे इनके

अनुपालन से सर्वत्र सुख को पाने की बात करते हैं। इस रूप में प्रजा के लिये इन्हें ही पुरुषार्थ निरूपित किया जा सकता है।

आचार्य कौटिल्य को सन्यास अधिक अनुशंसनीय नहीं प्रतीत होता। साथ ही सुख—दुःख में बुद्धि स्थिर रखने वाली तथा सोचने विचारने बोलने तथा कार्य करने में सक्षम बनाने वाली विद्या के रूप में आन्वीक्षिकी की अवधारणा आचार्य कौटिल्य के विचारों में महत्वपूर्ण है।

अर्थ की महत्ता एवं उपयोगिता सर्वविदित है, लेकिन अर्थ का दुस्प्रयोग मानव को पतन के गर्त में ले जाता है। इसीलिए भारतीय मनीषियों ने धर्म से अनुपालित अर्थ को ही पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है।

सन्दर्भ सूची

1. याज्ञ स्मृति 3 / 14,
2. यतः सर्वप्रयोजन सिद्धि स अर्थ । नीति वाक्यामृत-आर्षि
समुदघोष्य-सोमदेव सूरी
3. अर्थार्थ प्रवर्तते लोकः । चाणक्य सूत्र-502
4. अर्थ्यते सर्वेःइति अर्थः । वैदिक सम्पदा पृ0-217
5. चाणक्यसूत्र 1 / 2
6. वृत्तमूलोम् अर्थः । चाणक्य सूत्र-90
7. वात्स्यायन काम सूत्र (1 / 2 / 9)
8. The theory of pursartha Vol.9 page 129 Prasad
rajendra IIT Kanpur
9. अर्थशास्त्र 11 / 7 / 80
10. शुक्रनीति - 1 / 288
11. ऋग्वेद-10 / 117 / 6 (दयानन्द भाष्य)
12. नीतिशतकम्-37
13. पुरुषार्थचतुष्टय, प्रेम बल्लभ त्रिपाठी, पृ0 248
14. पुरुषार्थचतुष्टय, प्रेम बल्लभ त्रिपाठी, पृ0 207
15. चाणक्य सूत्र ,537
16. चाणक्य सूत्र ,509
17. कामसूत्रम् (1.2.9)
18. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 15 / 1
19. चाणक्य सूत्र, 3
20. ऋग्वेद (4 / 51 / 10)

21. ऋग्वेद (2 / 21 / 6)
22. 'तं होवाच "याज्ञवल्क्य, किमर्थमचारीः, पशुनिच्छन्, अण्वन्तानिति" ।
उभयमेव सम्रादिति होवाच ।"—
वृहदारण्यक उपनिषद् (4 / 1 / 1)
23. विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभय स ह ।
अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायाऽमृतमुश्नते ।। ईशावास्योपनिषद् ।
24. महाभारत (शान्ति पर्व. 167 / 22)
25. बाल्मीकि रामायण(युद्धकाण्ड 83 / 38)
26. कौटिल्य अर्थशास्त्र (प्रकरण—एक, अध्याय तीन—वार्ता दण्डनीति
स्थापना)
27. चाणक्य —नीति (4 / 5)
28. भारतीय मूल्य व्यवस्था डा0 सरिता शुक्ला 2012
पृ0 179
29. त्रिपाठी, प्रेम बल्लभ; पुरुषार्थचतुष्टय, पृ0 221
30. त्रिपाठी, प्रेम बल्लभ; पुरुषार्थचतुष्टय
31. "मूर्च्छा परिग्रहः"
उमास्वामीकृत, तत्त्वार्थ सूत्र (7 / 12)
32. "नाऽशस्तिवित्तेनेति"
वृहदारण्यक उपनिषद् (7 / 4 / 2)
33. "अर्थ लोलुपता दुःखमिति बुद्धं चिरान्मया"
महाभारत (शान्ति पर्व. 177 / 37)

34. कौटिल्य अर्थशास्त्र (शास्त्री गंगा प्रसाद, दिल्ली विक्रमी संवत् 2010)

पृ० 641

35. शुक्ला, सरिता; भारतीय मूल्य व्यवस्था, पृष्ठ 180

36. मनुस्मृति (6 / 3),

37. महाभारत (वनपर्व. 33 / 24)

38. बुद्धचरित (9 / 5)

39. मनुस्मृति (4 / 176)

40. महाभारत (शान्तिपर्व. 167 / 22)

41. कौटिल्य अर्थशास्त्र (1 / 1 / 1)

42. कौटिल्य अर्थशास्त्र (1 / 1 / 4)

43. कौटिल्य अर्थशास्त्र (1 / 1 / 5)

44. कौटिल्य अर्थशास्त्र (1 / 3 / 2)

45. कौटिल्य अर्थशास्त्र (1 / 3 / 5)

46. कौटिल्य अर्थशास्त्र (2 / 8 / 1)

47. कौटिल्य अर्थशास्त्र (2 / 4 / 8)

48. कौटिल्य अर्थशास्त्र (14 / 18 / 11-12)

49. कौटिल्य अर्थशास्त्र (14 / 18 / 10)

50. कौटिल्य अर्थशास्त्र (1 / 3 / 7)